अध्याय 9

सूत्रकृमि, घोंघा एवं स्लग
(Nematode, Snail & Slug)

सूत्रकृमि : सामान्य परिचय, संरचना, वर्गीकरण एवं पादप रोग (Nematode : Introduction, Structure, Classification & Plant Diseases)-

सूत्रकृमि अर्थात नेमेटोड (Nematode) शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के दो शब्दों नेमा (Nema) एवं आयड्स (Oides) से हुआ है। नेमा से तात्पर्य धागे सदृश्य एवं आयड्स का रूप से होता हैं। अतः इन धागेनुमा परजीवियों को सूत्रकृमि कहते हैं। सूत्र कृमियों का शरीर बेलनाकार होता हैं। अतः अँग्रेज इसे ईलवर्म भी कहते हैं। वहीं अमेरिका में इन्हे नेमा के नाम से भी जाना जाता हैं।

परिभाषा:– सामान्यतः सूक्ष्म, कृमि सदृश, त्रिस्तरीय, द्विपार्श्वसममित, बहुकोशिकीय, खंडहीन, कूटगुहिक, अकशेरूकी जन्तु जो जल या मृदा में मृतजीवी के रूप में अथवा पौधों एवं जन्तुओं पर परजीवी के रूप में रहते हैं, सूत्रकृमि कहलाते हैं।

आवास एवं वितरण:– सूत्रकृमि सभी प्रकार की आवासीय अवस्थाओं जैसे जल, स्थल, समुद्र, पहाड़, आदि सभी स्थानों में पाये जाते हैं। एक अनुमान के अनुसार पृथ्वी पर सूत्रकृमि की लगभग पाँच लाख प्रजातियाँ पायी जाती हैं। इनमें से केवल लगभग 25 हजार प्रजातियों का अध्ययन अब तक किया जा सका है।

सूत्रकृमि मूलतः स्वतन्त्र एवं परजीवी अवस्था में पाये जाते है। प्रायः पादप परजीवी सूत्रकृमि की औसत लम्बाई लगभग 0.2 मिमी एवं चौडाई 0.05 मिमी अथवा इससे भी कम होती है। पादप परजीवी सूत्रकृमि भोजन के लिए परपोषी पर पौधे के बाह्य, आंशिक आंतरिक एवं आंतरिक परजीवी के रूप में पाये जाते हैं।

बाह्य परजीवी के रूप में सूत्रकृमि का समस्त शरीर पौधे के बाहर रहता है केवल सूत्रकृमि का मुख व सिर पौधों के ऊतकों में प्रवेश करता है। आंशिक आंतरिक परजीवी अवस्था में सूत्रकृमि का सिर व शरीर का कुछ भाग परपोषी पौधे के ऊतकों में प्रवेश कर जाता है। जबकि आन्तरिक परजीवी अवस्था में सूत्रकृमि का पूरा शरीर परपोषी पादप कोशिकाओं के अन्दर पाया जाता हैं।

सूत्रकृमि चल एवं अचल प्रकृति के हो सकते हैं। मृतोपजीवी एवं स्वतंत्रजीवी सूत्रकृमि जल एवं मृदा में पाये जाते हैं तथा कार्बनिक पदार्थों से अपना भोजन ग्रहण करते हैं।

सूत्रकृमि पौधों, प्राणियों एवं पृथ्वी पर जल, थल, नभ सभी अवस्थाओं में पाये जाते हैं जिनके कुछ उदाहरण निम्न प्रकार से हैं–

1. खारे जल एवं मृदा में पाये जाने वाले सूत्रकृमि– कीटोस्टोमा, क्रोमेडोरा, डियोन्टोस्टोमा, आदि।

2. शुद्वजल में पाये जाने वाले सूत्रकृमि– प्लेक्टस, डोरायलेमस, निगोलेमस, मोनानंकस, रेब्डायटिस आदि।

3. जैविक परिचायक– इनका प्रयोग जल, पर्यावरण प्रदूषण सूचक के रूप में किया जाता हैं उदाहरण– पेनागिलस, रेडिवाइवस।

4. मानव परजीवी– *ऐसकेरिस लुम्ब्रीकोइड्स, एन्टरोबियस वर्मीकुलेरिस, वाउचेरेरिया बेनकोफ्टाई, ओन्कोसरका वोलवुलस, एन्काइलोस्टोमा ड्यूडोनेल* एवं *ड्रेकनकुलस मेडिनेनसिस*

5. जैविक नियंत्रक के रूप में प्रयुक्त होने वाले सूत्रकृमि – *रोमेनोमरमरिस कुलिसीवोरेक्स* मच्छर नियत्रण हेतु प्रयुक्त होते हैं जबकि टेनरनेमा एवं हैंटेरोरबेडाइटिस – सूत्रकृमि विशेष प्रकार के जीवाणु फोटोरेब्डस एवं जिनोरेब्डस को कीट गुहा में प्रवेश कर कीटों में सेप्टिसिमिया रोग पैदा कर नियत्रित करते हैं।

6. पादप परजीवी सूत्रकृमि– सूत्रकृमि पौधों की जड़ों एवं वायवीय भागों पर संक्रमण करते हैं उदाहरण– *एन्गुईना ट्रीटीसाई, मिलोइडोगाइन प्रजातियाँ, हेटेरोडेरा ऐवेनी, टाइलेन्कुलस सेमीपेनीट्रान्स* आदि।

AGRIGYAN.IN

7. उप परजीवी सूत्रकृमि की प्रजातियाँ– ये प्रजातियाँ पौधों की जड़ों की ऊपरी सतह से भोजन ग्रहण करती हैं जिससे पौधा कमजोर हो जाता है तथा इनके द्वारा पौधे के भागों पर बनाये गये छिद्रों से दूसरे परजीवी पौधें में प्रवेश कर उसे रोगी बना देते हैं। उदाहरण –

(क) सटन्ट सूत्रकृमि – *टाइलेन्कोरिंकस प्रजाति* ।

(ख) स्पाइरल सूत्रकृमि – *हैंलिकोटाइलेन्कस प्रजाति*।

(ग) लान्स सूत्रकृमि – *होप्लोलेमस प्रजाति*।

(घ) पिन सूत्रकृमि – *पैराटाइलेन्कस प्रजाति*।

(ङ) रिंग सूत्रकृमि – *हेमिक्रिकोनिमेटिड़्स प्रजाति*।

(च) शिथ सूत्रकृमि – *हमिसाइक्लियोफोरा प्रजाति*।

(छ) सुई सूत्रकृमि – *लोन्जीडोरस/पैरालान्जी डोरस प्रजाति*।

(ज) डेगर सूत्रकृमि – *जिफिनीमा प्रजाति*।

(झ) स्टबी जड़ सूत्रकृमि – *ट्राइकोडोरस प्रजाति*।

सूत्रकृमि का पौधों पर प्रभाव– सामान्यतः सूत्रकृमि से संक्रमित पौधे पीले हो जाते हैं, उचित वृद्वि नहीं होने के कारण बौने रह जाते हैं तथा पौधो में भोजन की कमी के लक्षण प्रकट करते हैं। जैसे – 1. जड़ें पतली, कमजोर, गुच्छेदार हो जाती हैं। 2. रोगी पौधे में पुष्प कम लगते हैं। 3. पुष्प झडने की समस्या रहती है। 4. फल झड़ जाते हैं। 5. फल संख्या में कम आकार में छोटे व भार में हल्के हो जाते हैं जिससे आर्थिक हानि होती हैं।

सूत्रकृमि की अधिकतर प्रजातियाँ जड़ों एवं पौधों की भूमिगत भागों से अपना भोजन ग्रहण करती हैं परन्तु कुछ प्रजातियाँ ऐसी भी होती हैं जो पौधे के ऊपरी भागों पर भी आक्रमण करती हैं। प्रायः पादप परजीवी सूत्रकृमियों के अन्दर एक खोखली सुई के आकार की रचना (Stylet) होती है। जिससे पौधों की कोशिका में प्रवेश कराकर पौधे की कोशिकाओं में लार की प्रविष्टी करा कर तथा लार में अन्दर उपस्थित तत्वों को घोल कर वापस सूत्रकृमि शरीर में सोख लेती है। इस प्रक्रिया में प्रायः पादप कोशिकाएँ बहुनाभिकिय विशालकाय कोशिकाओं में परिर्वतित हो जाती हैं, जबकि कुछ सूत्रकृमियों में कोशिका फूल कर गाँठ रूपी संरचना रूप में परिर्वतित हो जाती है जिसके फलस्वरूप पौधे कमजोर हो जाते हैं। सूत्रकृमि अप्रत्यक्ष रूप से विषाणु का संवहन करके तथा नत्रजन स्थिरीकरण की मात्रा को कम करके भी पौधों को हानि पहुचाते हैं। प्रो. जे.एन. सासर 1989 के अनुसार सूत्रकृमियों के कारण फसलों को औसतन 12.3 प्रतिशत की हानि होती हैं।

सूत्रकृमि की सामान्य संरचना –

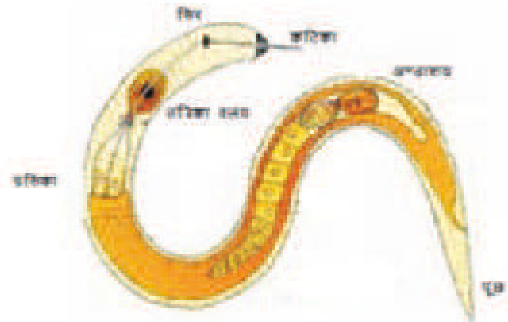

चित्र : सूत्रकृमि की संरचना

1. सूत्रकृमि का शरीर लम्बा बेलनाकार खण्डहीन कृमि सदृश होता है तथा ये दोनों सिरों पर पतले होते हैं।
2. सूत्रकृमि के शरीर में एक गुहा होती हैं जो देह भित्ती एवं आहार नाल की भित्ति के बीच में स्थित होती है। क्योंकि इनमें वास्तविक भित्ति का अभाव होता है अतः यह कूट गुहा (Pseudocoel) कहलाती हैं।
3. सूत्रकृमि का पूरा शरीर अपेक्षाकृत कठोर प्रतिरोधी उपचर्म (क्यूटीकल) के स्तर से ढ़का रहता है, क्यूटीकल का स्राव अधिचर्म कोशिकाओं के द्वारा होता हैं।
4. सूत्रकृमियों में कायिक पेशिन्यास का निर्माण चिकनीपेशीय कोशिकाओं से होता है जो अधिचर्म रज्जुओं (Epidermal Chords) के बीच स्थित होती हैं तथा सीधे अनुदैर्ध्य तंत्रिकाओं (Longitudinal nerve) से जुडी होती हैं।
5. सूत्रकृमियों के अग्र भाग पर मुख छिद्र होता है, जो ओष्ठों (Lips) और पतले उभार (Papila) से घिरा रहता है। सूत्रकृमि का ये क्षेत्र त्रि–त्रिज्यात्मक (Triradiate) होता हैं। मुख छिद्र पर प्रायः छः ओष्ठ पाये जाते है।
6. सूत्रकृमियों में तंत्रिकातंत्र का निर्माण एक परिग्रसिका तंत्रिका वलय एवं अनुदैर्ध्य तंत्रिकाओं से मिलकर होता हैं।
7. सूत्रकृमि में परिसंचरण एवं श्वसनतंत्र पूर्णत अनुपस्थित होते हैं।
8. सूत्रकृमि में उत्सर्जन तंत्र आद्य (Primitive) होता है, इनमें ज्वालाकोशिकाओं (Flame cells) का अभाव पाया जाता है।
9. सूत्रकृमियों में पाचन तंत्र का निर्माण मुख, ग्रसिका, आन्त्र, मलाशय एवं गुदाद्वार से मिलकर बनता है।
10. सूत्रकृमियों में नर एवं मादा अलग – अलग होते हैं। प्रायः जननांग नलिकाकार होते हैं। नर जननांग में प्रानिदेशक (gubernaculum), वृषण (testis), शुक्रवाहिनी (vasdeferens), गुदा (cloaca), कंटक (spicules) एवं प्रपुटी (bursa) जैसे भाग होते हैं तथा मादा जननांग अण्डाशय (ovary) अण्डनलिकाएं (oviduct) गर्भाशय (uterus), गर्भाशय ग्रीवा (vagina), भग (vulva) से मिलकर बना हुआ होता है।

AGRIGYAN.IN

11. मादा जननांग में अण्डाशय द्विअण्डाशयी (didelphic), एकल अण्डाशयी (monodelphic) प्रकार के होते हैं, जो जनन छिद्र में खुलते हैं। मादा अण्डप्रजनक (oviparous) अथवा अण्डजरायुज (ovoviviparous) होती हैं तथा विदलन निर्धारी एवं सूत्रकृमि का विकास निर्मोचन के द्वारा होता है।
12. नर सूत्रकृमियों में पूँछ वाले क्षेत्र में प्रपुटी (bursa) पाया जाता है जो मैथुन क्रिया में नर द्वारा मादा को पकड़ने में सहायता प्रदान करता है।
13. सामान्यतः सूत्रकृमि 0.5 मिमी. से 4 मिमी. तक लम्बे होते है। सबसे छोटे सूत्रकृमि (पेराटायलैंकस) की लम्बाई 0.2 मिमी. तथा सर्वाधिक लम्बे सूत्रकृमि (पैरालौंगीडोरस) की लम्बाई लगभग 11.0 मिमी. तक होती हैं।
14. सूत्रकृमियों का शरीर पार्श्व रूप में दो भागों में विभाजित होता है किन्तु प्रजननांग भागों तथा उत्सर्ग नली क्षेत्रों में समरूपता नहीं पायी जाती हैं। ल्यूमन के क्षेत्र में त्रि–त्रिज्या ओष्ठ भाग में षटत्रिज्या तथा शरीर के अन्य भागों में चतुष्त्रिज्या समरूपता पायी जाती हैं।

सूत्रकृमि का वर्गीकरण–

सभी सूत्रकृमि संघ–निमेटोडा के सदस्य है जो प्राणी जगत का भाग है। नेमेटोडा संघ को वर्ग,गण, कुल, उप कुल, अपरकुल, उपकूल, वंश, एवं जाति में वर्गीकृत किया जा सकता है। नेमेटोड संघ को दो वर्ग सिसरनैन्शिया एवं ऐडिनोफोरिया में बाँटा जाता है। डोरयलिमिडा के अतिरिक्त सभी पादप सूत्रकृमि वर्ग सेसरनैन्शिया के कुल टायलेकिडा के अन्तर्गत आते हैं।

टायलेकिडा कुल के अन्तर्गत आने वाले पादप परजीवी सूत्रकृमियों को निम्नलिखित प्रकार से बाँटा जा सकता हैं–

संघ निमेटोडा

- **सेसरनैन्शिया**
  - **गण**– टायलेकिडा
    - **उपगण**– टायलेकिना
      1. **अधिकुल**– टायलेनकोइडिया
         1. कुल– टायलेंकिडी
            वंश– एन्गुइना, डिटायलेन्कस
         2. कुल– होलोलेमिडी
            उप कुल– होप्लोलेमिनी
            वंश– होप्लोलेमस
            उपकुल रोटायलेंकिनी
            वंश – रोटायलेंकस, हैलिकोटायलंकस
            उपकुल – रोटायलेन्कुलिनि
            वंश – रोटायलेन्कुलस
         3. कुल– टायलेन्कोराहिनकिडी
            उपकुल– टायलेन्कोराहिनकिनी
            वंश– टायलेन्कोराहिनकस
         4. कुल– प्रेटीलेन्किडी
            उपकुल–प्रेटीलेन्किनी
            वंश–प्रेटीलेन्कस
      2. **अधिकुल**– हैंटेरोडेरोडिया
         1. कुल – हैंटेरोडेरिडि
            उपकुल – हैंटेरोडेरिनि
            वंश – हैंटेरोडेरा, ग्लोबोडेरा
         2. कुल – मिलोयडोगाइनिडि
            वंश – मिलोयडोगाइनी
      3. **अधिकुल**– **क्रिकोनिमोडिया**
         1. कुल – क्रिकोनिमेटिडी
            उपकुल – प्रेटेलेकिनी
            वंश – पैराटाइलेंकस
         2. कुल – टायलेन्कुडि
            वंश – टायलेन्कुलस
    - उपगण– एफेलेन्किना
      कुल– एफेलेन्किडाइडी
      वंश– एफेलेन्कोइडस
      कुल– एफेलेन्कीडी
      वंश– एफेलेन्कस
  - **गण**–डोरिलेमिडा
- **ऐडिनोफोरिया**

AGRIGYAN.IN

1 गेहूँ का मौल्या रोग
(Molya Disease of wheat) :–

खाद्यान्न की पुटी रोग की खोज सर्वप्रथम जर्मनी के वैज्ञानिक जे.जी. कोहन ने 1874 में की थी। भारत में सर्वप्रथम वर्ष 1958 में वासुदेवा ने राजस्थान के सीकर जिले में इस रोग को देखा। राजस्थान के जयपुर, अलवर, अजमेर, पाली चितौड़गढ़, उदयपुर, टोंक, झुन्झुनूं, भीलवाड़ा एवं सवाई माधोपुर जिलों में भी इस रोग की उपस्थिति पायी जाती हैं।

राजस्थान के स्थानीय लोग इस रोग को मौल्या के नाम से पुकारते हैं क्योंकि यह रोग बन्दर की उछाल की तरह खेत में छितरा हुआ पाया जाता हैं।

लक्षण (Symptoms)– खेत में पौधे जब एक दो माह के होते हैं तभी इस रोग के लक्षण प्रकट होने लगते हैं, जो निम्न प्रकार के होते हैं –

1. खेत में पौधे भिन्न–भिन्न समूह में छोटे और बड़े दिखाई देते हैं।
2. पौधे बौने और पीले दिखाई देते हैं। पौधे एक – दो फीट से अधिक ऊँचे नहीं होते हैं। पौधों में कल्ले कम निकलते हैं तथा पौधे का तना पतला एवं कमजोर पाया जाता है।
3. रोग ग्रस्त पौधे की जड़ें पतली, क्षीण एवं गुच्छेदार पायी जाती है। प्रारम्भिक अवस्था में जड़ों को स्वच्छ जल से धोकर देखने पर गोलाकार या पुटीकार श्वेत रंग की चमकीली मादा सूत्रकृमि दिखाई देती हैं, जो परिपक्व होने पर भूरे रंग की हो जाती हैं।
4. जड़ों का वह स्थान जहाँ पर पुटी जुड़ी रहती हैं, हल्के फूले हुये रहते हैं। पौधे की जड़ पर पन्द्रह से बीस तक पुटियाँ मिल सकती हैं, ऐसे पौधों को मृदा से हाथ द्वारा खींच कर आसानी से निकाला जा सकता हैं।
5. संक्रमित पौधो में पुष्पन सामान्य पौधों की अपेक्षा समय से पूर्व होता हैं, परन्तु बालियों में कुछ दानें बन सकते हैं, परन्तु रोग की गंभीर संक्रमण अवस्था में बालियों में दाने नही बनते हैं।

रोगजनक (Pathogen)– *हेटेरोडेरा ऐविनी या हेटेरोडेरा मेजर (Heterodera avenae / Heterodera mazer)*

रोग चक्र (Disease Cycle)–रोग का वार्षिक आवर्तन पुटियों के द्वारा होता है। पादप अवशेषों पर बने पुटियों में डिम्भक एवं अण्डे भरे रहते हैं, जो अगली फसल तक सुषुप्त अवस्था में बने रहते हैं तथा अनुकूल अवस्था आने पर (सितम्बर से नवम्बर माह के मध्य) गेहूँ व जौ की बुवाई होने पर अण्डों से सूत्रकृमि के द्वितीय डिम्भक अवस्था बाहर निकल आती है एवं जड़ों पर आक्रमण कर संक्रमण पैदा कर देती है, और इसी प्रकार फरवरी माह के तीसरे सप्ताह में जड़ों पर पुनः मादा सूत्रकृमि एवं पुटियाँ दिखाई देना प्रारम्भ हो जाती हैं, जो अगली फसल में प्रारम्भिक निवेश द्रव्य का कार्य करती हैं।

चित्र 9.1 – मौल्यारोग से प्रभावित गेहूँ के पौधे

प्रबन्धन (Management):

शस्य प्रबन्धन (Cultural management):

1. **फसल चक्र** – अपरपोषी फसलों जैसे, सरसों, धनिया, चना, जीरा, प्याज, मेथी, गाजर आदि को गेहूँ के साथ फसल चक्र में अपना कर सूत्रकृमि की संख्या एवं रोग प्रभाव को कम किया जा सकता हैं।
2. **ग्रीष्मकालीन जुताई**– सूत्रकृमि मृदा में उपस्थित पुटियों में जीवित बना रहता है, एवं शुष्कन के प्रति संवेदी होता है, अतः ग्रीष्मकाल में खेत की एक दो गहरी जुताई करके छोड़ देने पर ग्रीष्म ऋतु के उच्च तापमान लगभग (45 से 50 डिग्री सेन्टीग्रेड के प्रभाव से सूत्रकृमि को नियंत्रित किया जा सकता है।
3. **अगेती बुआई**– गेहूँ की अगेती बुआई करके परपोषी को सूत्रकृमि संक्रमण के अनुकूल अवस्था से बचाकर रोग प्रबन्धन किया जा सकता है।

जैविक प्रबन्धन (Biological managment):

प्रतिरोधी किस्में– जैसे राजकिरण, सी–164, एचडी–2052, 2032, आर.जे.एम.आर–1 तथा एचडी–2257, 2265 डब्ल्यूएच– 220, 250 डब्ल्यूएल– 922, 2199, डब्ल्यूजी –

AGRIGYAN.IN

736, राजस्थान 1409, 1470, 1487 किस्मों पर सूत्रकृमि का प्रभाव नही पड़ता अतः रोग प्रबन्धन हेतु इन किस्मों का प्रयोग किया जा सकता है।

रासायनिक प्रबन्धन (Chemical management):

अत्यधिक संक्रमण की अवस्था में मृदा को दो किलोग्राम सक्रिय तत्व प्रति हेक्टेयर की दर से एलडीकार्ब या कार्बोफ्यूरान का प्रयोग कर सूत्रकृमियों को नियंत्रित किया जा सकता है।

2. सब्जियों का जड़ ग्रन्थि रोग (Root Knot Disease of Vegetables) :-

बर्कली ने सर्वप्रथम 1855 में इंग्लैण्ड में ककडी कुल पर जड़ ग्रन्थि सूत्रकृमि का उल्लेख किया था। भारत वर्ष ने इस सूत्रकृमि को बार्बर नामक वैज्ञानिक 1901 में सर्वप्रथम चाय के बागानों में देखा था।

मिलोइडोगाइनी शब्द की उत्पति ग्रीक भाषा के शब्द (Melon = apple or guard, Oides = Resembling, gyne = female) से हुआ हैं जिसका तात्पर्य सेव या गार्ड की तरह की मादा सूत्रकृमि से हैं क्योकि इस प्रकार की मादाएँ परिपक्व होने पर सेव या गार्ड की तरह का रूप प्राप्त कर लेती हैं। भारत में जड़ ग्रन्थि सूत्रकृमि सब्जी वाली फसलों को अत्यधिक प्रभावित करता हैं, लगभग 1700 पादप प्रजातियों पर इनका प्रभाव देखा जाता हैं। मुख्य रूप से ककड़ीकुल, आलू, टमाटर, बैंगन, मिर्च, भिण्डी, गाजर, मूली, सेम अरबी आदि फसलों पर इसका प्रभाव अधिक पड़ता हैं।

रोगजनक (Pathogen)– *मेलोइडोगाइनी प्रजातियां (Meloidogyne species)*

सम्पूर्ण विश्व में 1986 तक मिलोइडोगाइनी वंश की 61 प्रजातियाँ एवं 2 उप प्रजातियाँ खोजी गई इनमें से भारत में पायी जाने वाली 12 प्रजातियाँ पायी जाती हैं जिनमें से दो प्रमुख हैं–

1. *मिलोइडोगाइनी इनकाग्निटा,* 2. *मि. जेवेनिका,*

लक्षण (Symptoms)– मूल गाँठ सूत्रकृमि मुख्य रूप से जड़ों एवं भूमिगत कंदों फलों के परजीवी होते हैं, अतः इनके कारण पौधो के ऊपरी भागों पर पोषक तत्वों की कमी के कारण पर्यावरणीय कारकों के प्रभाव की तरह के लक्षण प्रकट होते हैं, जो निम्नलिखित प्रकार के होते हैं–

1. रोगग्रस्त पौधों की वृद्धि रूक जाती है।
2. रोगी पौधे खेत में बिखरे हुए पाये जाते हैं, क्योंकि जड़ ग्रन्थी सूत्रकृमि असमान रूप से खेत में वितरित होते हैं।
3. रोगी पौधों का क्षेत्रफल जुताई एवं सिंचाई की दिशा में बढ़ता है।
4. जड़ों एवं भूमिगत भागों पर संक्रमण होता है। संक्रमित जड़ों का व्यास स्वस्थ जड़ों की अपेक्षा 2 से 3 गुना अधिक होता है, तथा जड़ों में गाँठों का निर्माण होने के कारण जड़ रूक्ष, मुगदराकार हो जाती हैं।
5. संक्रमित जड़ के गाँठ वाले भाग में नाइट्रोजन, फास्फोरस, पोटाश का अधिक संचय पाया जाता है क्योंकि ये ऊपरी भाग में स्थानान्तरित नहीं हो पाता है।
6. गाँठ के निर्माण के अतिरिक्त गाजर एवं चुकंदर में जड़ का द्विशाखन, कून्चित मूलाभ कंद एवं फलियों पर फुंसी जैसी संरचनाएँ बन जाती है।
7. पिटिका युक्त ऊतकों से पोषक तत्वों का क्षरण या रिसाव हो सकता हैं।
8. जड़ गाँठ उत्पन्न होने से पौधे की जल व पोषक तत्त्व की ग्रहण करने की क्षमता कम हो जाती है। जिससे उत्पादन पर प्रभाव पड़ता है तथा कुरूपता के कारण विपरीत प्रभाव पडता है।

चित्र 9.2– मिलोइडोगाइनी सूत्रकृमि से संक्रमित पौधे की जड़

रोग चक्र (Disease Cycle)– रोग जनक सूत्रकृमि की उत्पत्ति एवं पुनरावृत्ति मादा द्वारा परपोषी ऊतकों में अथवा मृदा में स्रावित जिलेटिनस मेट्रिक्स में दिये गये अण्डों से होती है। यह अण्डे आकृति में दीर्घ वृत्ताकार होते हैं। प्रायः परपोषी कोशिका में बनी पुटि में लगभग 400 से 500 की संख्या में सूत्रकृमि पाये जाते हैं, जो कभी– कभी एक हजार तक हो सकते हैं।

संक्रमित जड़ों पर बनी पुटियों का आकार मादा के आकार

AGRIGYAN.IN

से भी फूलकर बड़ा हो जाता है। अण्डों में भ्रूण के निर्माण के पश्चात डिम्भक का विकास होता है। डिम्भक की प्रथम अवस्था शुष्क परिस्थितियों के लिए अत्यधिक प्रतिरोधी होते हैं, परन्तु अण्डें के भीतर गति करने में सक्षम होते हैं।

प्रथम निर्मोचन अण्डें में ही होता है तत्पश्चात् डिम्भक की द्वितीय अवस्था बनती है जो अनुकूल अवस्था जैसे – उपयुक्त तापक्रम, नमी, परासरणीय दबाव, मिलने पर अण्डे से बाहर आ जाती है।

ये सूत्रकृमि आकृति में बेलनाकार, छोटे (0.3 से 0.45) मिमी. के होते हैं। ये रगंहीन होते हैं तथा पूँछ पीछे की ओर मुडी होती है। ये मृदा में बाहर निकलकर धीरे–धीरे गति कर फसल की जड़ों के सम्पर्क में आकर संक्रमित स्थान पर नई पुटियों या गाँठों का निर्माण करते हैं, जिनसे पुनः डिम्भक निकलते हैं।

प्रबन्धन (Management) : इस रोग का प्रबन्धन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है –

शस्य प्रबन्धन (Cultural management) :

(1) जिस खेत में रोग का प्रभाव हो उसमें अवशेषों को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिए तथा ग्रीष्मकालीन एक–दो जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से कर देना चाहिए ताकि मिट्टी में पड़े सूत्रकृमि अवशेष जैसे– अण्डे व डिम्भक नष्ट हो जाए।

(2) इस रोग को नियंत्रित करने के लिए दो से तीन वर्ष तक फसलचक्र अपना कर जिसमें रोगरोधी फसलें जैसे– ज्वार, बाजरा, सेम, रिजका, जई, सावां काकुन, उगाया जाना चाहिए।

(3) रोग मुक्त खेत से बीज का चुनाव किया जाना चाहिए।

(4) रोपण सामग्री जैसे – कंद, शल्ककंद, घनकंद, मूल आदि को ऊष्ण जल उपचार करके बोया जाना चाहिए। जैसे– आलू के कंदों को 46–47.5 डिग्री सेन्टीग्रेड पर एक घण्टा, अदरक प्रकंद को 55 डिग्री सेन्टी. तापक्रम पर 10 मिनट के लिए तथा शकरकंद को 46.70 डिग्री सेन्टीग्रेड पर 65 मिनट तक उपचार करके बोया जाना चाहिए।

(5) करंज, नीम, रतनजोत, महुवा व अरण्डी 15–25 क्विन्टल प्रति हेक्टर खेत मे डालने से रोग व्यापकता कम होती है। रोग प्रबन्धन के लिए 25 क्वि. लकड़ी का बुरादा प्रति हेक्टर मिलाने से रोग का प्रभाव कम हो जाता है।

जैविक प्रबन्धन (Biological managment) :

महत्त्वपूर्ण फसलों के जड़ गाँठ सूत्रकृमि की विभिन्न प्रजातियों की प्रतिरोधी किस्में (सारणी 9.1) बौना चाहिए।

फसल का नाम	मिलोइडोगाइनी प्रजाति का नाम	प्रतिरोधी किस्में
टमाटर	*मिलोइडोगाइनी इनकोग्निटा* रेस 1 – रेस 2 – रेस 3– रेस 4 – *मिलोइडोगाइनी जेवेनिका*	पूसा रूबी, एस–120, एन. टी.डी.आर.1, वि, एफ,एन–8, निमाटेक्स, हिसार ललीत, मंगला कर्नाटका हाइब्रिड पूसा – 120, ए–1–1–2 पंजाब 6, एन.आर. 7, वी. एफ.एन. बुश पूसा – 120 पंजाब 6, एन. आर. 7, वी.एफ.एन.8, वी. एफ.एन.बुश एस–120, एस.एल.12, रेसिसटेन्ट बैंगलोर, एन.टी. डी.आर. 1, पूसा–120, पंजाब 6, एन.आर. 7, निमाटेक्स, वी.एफ.एन. 360, 8, 225
बैंगन	*मिलोइडोगाइनी इनकोग्निटा* *मिलोइडोगाइनी जेवेनिका*	ब्लैक ब्यूटी, जायन्ट ऑफ बनारस, विजय, मैसूर ग्रीन, पूसा परपल लांग भंता, मुक्तावंशी, गोललाल, कुली, मेथिस बी, मैसूर ग्रीन, अमेरिकन बिगराउण्ड, अर्काशील, आर–34, सोनीपत, बी.आर.–112
भिण्डी	*मिलोइडोगाइनी जेवेनिका*	लॉग ग्रीन स्मूथ, आई.सी. – 9273, आई.सी.– 18960
मिर्च	*मिलोइडोगाइनी इनकोग्निटा* रेस– 1 रेस – 2 रेस – 3 रेस – 4 *मिलोइडोगाइनी जेवेनिका*	– पूसा ज्वाला, ज्वाला ज्वाला पूसा ज्वाला, ज्वाला ज्वाला पूसा ज्वाला, सूर्यमुखी, ब्लैक, ज्वाला, बुलनोज, 579, सी.ए.पी. 63, चिली. एन.पी. – 46–ए, चिली जी–3
ककड़ी कुल	*मिलोइडोगाइनी जेवेनिका* *मिलोइडोगाइन इनकोग्निटा*	इम्प्रूवड लांग ग्रीन, एस–445 (खरबूज) जी.वाई.– 5937–587

AGRIGYAN.IN

रासायनिक प्रबन्धन (Chemical management) :

(1) रसायनों से बीजों को उपचारित करके जड़ गाँठ रोग को कम किया जा सकता हैं जैसे – चने के बीजों को कार्बोफ्यूरान एवं फिनेमिफास तथा चुकंदर को कार्बोफ्यूरान एवं एल्डीकार्ब सल्फोन द्वारा उपचारित कर बोया जाता हैं।

(2) रासायनिक मृदा उपचार– एक किलो ग्राम एल्डीकार्ब प्रति हेक्टर की दर से या दो किलो ग्राम कार्बोफ्यूरान प्रति हेक्टर की दर से सक्रिय तत्व या 13 ग्राम कार्बोफ्यूरान प्रति वर्ग मीटर के हिसाब से उपचारित कर जड़गाँठ सूत्रकृमियों को प्रबंध किया जा सकता हैं।

3. गेहूँ का सेंहू एवं तुंदु रोग (Ear cockle & yellow ear rot disease of wheat) –

परिचय : गेहूँ का सेहू रोग की खोज सर्वप्रथम इंग्लैण्ड के वैज्ञानिक निधम ने 1743 में की थी। भारत में यह रोग सर्वप्रथम पंजाब प्रान्त में 1919 में मिलने द्वारा देखा गया था। वासुदेवा एवं हिगोरानी 1952 ने बताया कि इस रोग के कारण गेहूँ के उत्पादन में 1–3 प्रतिशत तक की हानि होती है।

यह रोग पीले बाली विग्लन रोग कारक, जीवाणु, *रेथायीबेक्टर ट्रीटीसाई (Rathayibacter tritici)* के साथ पाया जाता हैं। अधिक मात्रा में नुकसान पहुँचाने के साथ–साथ गेगल (ear cockle) युक्त आटा मनुष्यों एवं पशुओं के लिए जहरीला हो जाता हैं। हचिनसन ने 1917 में भारत के पंजाब प्रान्त से सर्वप्रथम बाली विगलन रोग कारक की खोज की।

सेहू रोग के लक्षण (Symptoms of Ear cockle) – इस रोग के लक्षण तने, पत्ति एवं पुष्पीय भागों पर दिखाई देते हैं। संक्रमित पौधा बौना रह जाता है तथा इसकी पत्तियाँ मुडी हुई और झुर्रीदार हो जाती हैं।

संक्रमित बालियाँ फैली हुई, छोटी, चौड़ी होती हैं, तथा लम्बे समय तक हरी बनी रहती हैं इसमें दानें के स्थान पर गेगले बनते हैं जो गहरे भूरे से काले रंग के होते हैं।

चित्र 9.3(अ) – गेहूँ के सेहू से संक्रमित पौधों के बाली पर प्रकट लक्षण

प्रायः रोगी पौधे में स्वस्थ पौधे से 30 से 40 दिन पहले बालियाँ निकल आती हैं, तथा पिटिकाएँ बनना प्रारम्भ हो जाती हैं, जो प्रारम्भ में मुलायम चमकीले गहरे रंग की होती हैं, जो बाद में गहरे भूरे या काले रंग में बदल जाती हैं। पिटिकाएँ कुडों के आधार तुषों पर भी बन सकती हैं।

संक्रमित पौधे का तना मृदा के समीप आधार भाग पर फूला रहता हैं। यह रोग केवल सूत्रकृमि द्वारा होता है।

तुंदु रोग के लक्षण (Symptoms of Yellow Ear Rot) – गेहूँ में तुंदु या पीली बाली विगलन रोग का प्रथम लक्षण तरूण पौधों की निचली पत्तियाँ ऐंठी हुई दिखाई देती है तथा एक चमकीले पीले रंग का चिपचिपा अवपंक रूपी रिसाव बालियों एवं पत्तियों पर पाया जाता है, जिसके कारण पर्णाच्छद एवं तना चिपककर गुंथ जाता है जिससे पौधे की वृद्विरूक जाती हैं और तना विकृत हो जाता हैं।

चित्र 9.3 (ब) तुंदु रोग से संक्रमित बालियाँ

नम मौसम में ये अवपंक (Slime substance) बहते हुए दिखाई देता है परन्तु सूखने पर कठोर भंगुर एवं पीले या भूरे रंग का हो जाता है। यह रोग सूत्रकृमि एवं जीवाणु कारण होता है अतः इसे जटिल रोग भी कहते हैं।

रोगजनक (Pathogen)– *एंग्यूइना ट्रीटीसाई (Anguina tritici)* और *रेथाईबेक्टर ट्रीटीसाई (Rathayibacter tritici)* के कारण फैलता है।

रोग चक्र (Disease Cycle)– गेहूँ के सेहू रोग को उत्पन्न करने वाले डिम्भक पिटिकाओं में नम अवस्थाओं में 8 से 9 वर्ष व शुष्क अवस्थाओं में लगभग 28 वर्ष तक जीवनक्षम बना रहता है।

खेत में तथा पौधे के अवशेषों पर बनी ये पिटिकाएँ अगले फसल में संक्रमण फैलाने में प्राथमिक निवेश द्रव्य का कार्य करती है। मृदा में पड़े ये डिम्भक उचित नमी मिलने पर बाहर निकल आते हैं तथा जब गेहूँ के छोटे पौधों की सतह पर हल्की जल परत उपस्थित होती हैं तब ये डिम्भक तैरते हुये वर्धन शिखा के निकट पहुँच जाते हैं, और पत्तियों से बाह्य परजीवी के रूप में पोषण लेने लगते हैं जिसके कारण पत्तियाँ कुरूप या कुरचित हो जाती हैं।

AGRIGYAN.IN

पौधे की वृद्धि के साथ–साथ द्वितीय अवस्था डिम्भक बढ़ कर पुष्प के अग्र भाग से प्रवेश कर पिटिकाएँ बनाते हैं। प्रत्येक मादा, पिटिका में दस हजार से तीस हजार तक अण्ड़े देती हैं, तथा अण्ड़े देने के तुरन्त बाद मर जाती है। अण्डे से प्रथम डिम्भक अवस्था बनती है जो निर्मोचन के द्वारा द्वितीय डिम्भक अवस्था में परिवर्तित हो जाती है।

वासुदेवा व हिगोरानी 1950 के अनुसार गेहूँ में तुन्दूरोग पैदा करने वाले रोगजनक *रेथाईबेक्टर ट्रीटीसाई (Rathayibacter tritici) एग्यूइना ट्रीटीसाई (Anguina tritici)* सूत्रकृमि के बीच एक अविकल्पी हेतुकीय सम्बन्ध है। सूत्रकृमि के डिम्भक तुन्दु रोग के जीवाणु को गेहूँ के पौधे तक पहुँचाने में रोगवाहक (Vector) के रूप में कार्य करते हैं। मृदा में जब सूत्रकृमि डिम्भक निकलते हैं और गेहूँ के पौधे में संक्रमण करते हैं तो जीवाणु निवेशद्रव्य को भी अपने शरीर पर चिपकाकर साथ ले जाते हैं और इस प्रकार जीवाणु का संक्रमण हो जाता है।

प्रबन्धन (Management) :

शस्य प्रबन्धन (Cultural management) :

(1) रोग रहित क्षेत्र से बीजों का चयन किया जाना चाहिए। बीज में मिली हुई पिटिकाओं को छलनी से छान कर अलग कर देना चाहिए।

(2) पिटिका युक्त बीजों को 20 प्रतिशत साधारण नमक के घोल में डुबोकर मिश्रित पिटिकाओं को अलग कर लेना चाहिए।

(3) बीजों को दो से तीन घण्टे तक पानी में भिगो कर 54 डिग्री सेन्टीग्रेड तापक्रम पर 10 मिनट रखकर सुखा लेना चाहिए, जिससे पिटिकाएँ निष्क्रिय हो जाती हैं।

(4) सेहू रोग से बचने के लिए दो से तीन वर्ष का फसल चक्र अपनाना चाहिए जिसमें जौ, जई, जैसी अन्य धान्य फसलों की बुवाई की जानी चाहिए।

(5) गेहूँ की अगेती बुवाई की जानी चाहिए।

जैविक प्रबन्धन (Biological management) :

गेहूँ की प्रतिरोधी किस्में सोनारा 63, लर्माराजो, एन.पी.608, एस.227 की बुवाई की जानी चाहिए।

रासायनिक प्रबन्धन (Chemical management) :

(1) इस रोग का संक्रमण अधिक होने पर नेमाफोस, जीनोफोस, एलडीकार्ब, थायोनेजिन आदि से मृदा उपचार किया जा सकता है।

(2) एलडीकार्ब, सल्फोज का 2 किलोग्राम सक्रिय तत्व प्रति हेक्टर की दर से खेत में छिड़काव करके गेहूँ के सेहू रोग का नियंत्रण किया जा सकता हैं।

4. घोंघा (Snail) :-

सामान्यतः घोंघे आर्द्र एवं छायादार स्थानों पर पाये जाते हैं। यह रात्रिचर व शाकाहारी जन्तु है। यह वर्षा ऋतु से सक्रिय होकर पौधों को क्षति पहुँचाता है। यह धीरे–धीरे रेंगता है व आधारतल पर म्युकस की एक पतली पर्त स्त्रावित करता है।

घोंघे पौधों को विशेषकर शाक–सब्जियों की पत्तियों एवं तनों को खाकर नुकसान पहुँचाते हैं। विशाल अफ्रीकी घोंघा (अकेटिना फुलिका) सब्जियों, बागवानी पौधों, फलों, सजावटी सामान को एवं क्रिप्टोजोन घोंघा मूंगफली, सेमफली, शहतूत, मिर्च इत्यादि फसलों को नुकसान पहुँचाता हैं।

कुछ घोंघे मनुष्य एवं दूसरे अन्य परभक्षियों जैसें मछलियों, पक्षियों इत्यादि द्वारा खाये भी जाते हैं।

पहचान :

यदि शरीर अखण्डित, असम्मित व एक कठोर कुण्डलित कवच (केलकेरियस शैल) से पूरा अथवा थोड़ा ढ़का है, सिर पर दो जोड़ी स्पर्शक पाये जाते है, तो वह घोंघा है।

वर्गीकरण (Classification)–

संघ : मोलस्का

वर्ग : गेस्ट्रोपोडा

गण : पल्मोनेटा (*Pulmonata*)

वंश : हेलिक्स (*Helix*)

लक्षण (Characters)–

1. इसका शरीर कोमल, प्रगुही, द्विपार्श्व सम्मित, त्रिस्तरीय तथा अखंडी होता है।
2. शरीर एक कठोर आवरण से ढ़का होता है।
3. घोंघा का शरीर, सिर, प्रावार, पाद तथा आंतरांग–पुंज भागों में विभक्त होता है।
4. इसके सिर पर दो जोड़ी स्पर्शक होते हैं, जिनमें से पश्चवाली लम्बी जोड़ी के शीर्ष पर नेत्र होते हैं।
5. रक्त संस्थान खुला तथा श्वसन क्रिया गिल या टीनिडियम द्वारा होती है।
6. शरीर के चारों ओर एक माँसल प्रावार होता है जो कवच का स्त्राव करता है।
7. यह उभयलिंगी होता है।

चित्र 9.4 गार्डन स्नैल (हेलिक्स)

AGRIGYAN.IN

5. स्लग (Slug)

यह बाग–बगीचों की नम मिट्टी खेतों तथा दलदली क्षेत्रों में पाया जाता हैं। स्लग पर मौसम का अधिक प्रभाव होता हैं। स्लग रात्रि या वर्षा के मौसम में बाहर निकलता हैं तथा बागवानी व खेती की फसलों को हानि पहुँचाता है। काली स्लग (लेबिकॉलिस ऐल्टे) का प्रकोप मुख्यतः नीम की नर्सरी, पान की फसलों एवं सब्जियों पर होता हैं एवं उत्पादन पर विपरित प्रभाव डालता हैं। इसकी अन्य प्रजाति स्लेटी स्लग (एनाडेन्स) मक्का की फसल पर एवं भूरा स्लग (लाइमेक्स) कंद वाली सब्जी की फसलों, खेतों व उद्यान के पौधों को नुकसान पहुँचाती हैं।

पहचान :

जन्तु का शरीर लम्बा, पीछे से पतला, नुकीला है, सिर पर दो स्पर्शक तथा काले नेत्र दिखाई देते हैं और प्रावार संरचना है तो यह प्राणी स्लग है।

वर्गीकरण (Classification)–

संघ : मोलस्का

वर्ग : गेस्ट्रोपोडा

गण : पल्मोनेटा (Pulmonata)

वंश : लाइमेक्स (*Limax*)

लक्षण (Characters)–

1. स्लग का शरीर लम्बा, कवचहीन तथा पीछे की ओर पतला व नुकीला होता हैं।
2. इसका शरीर सिर, पाद, प्रावार तथा आंतरंग कूबड़ में बंटा होता हैं।
3. सिर पर दो जोड़ी आंकुचलनशील स्पर्शक होते हैं जिनमें पश्च् जोड़ी के शीर्ष पर काले नेत्र स्थित होते हैं।
4. यह उभयलिंगी, रात्रिचर, स्थलीय एवं शाकाहारी होता हैं।
5. स्लग के अधरतल पर एक चौड़ा, चपटा व तलवे के समान पाद होता हैं।

चित्र 9.5 स्लग (लाइमेक्स)

मुख्य बिन्दु

1. सूत्रकृमि सूक्ष्म, कृमि सदृश, त्रि–स्तरीय, द्वि–पार्श्व सममित, बहुकोशिक, खंण्ड़हीन कूटगुहिक अकशेरूकी, परजीवी या स्वतंत्रजीवी के रूप में पाये जाते हैं।
2. सूत्रकृमि विभिन्न अवस्थाओं में पाये जाते हैं जैसे –
   – कीटोस्टोमा, क्रोमेडोरा, डियोन्टोस्टोमा, आदि खारे जल में पाये जाते हैं।
   – प्लेक्टस, डोराथीलेमस, निगोलेमस, मोनानकस, रेब्डायटिस शुद्ध जल में पाये जाते हैं।
   – *ऐस्केरिस लुम्ब्रीकोइडस, एन्टरोबियस वर्मीकुलेरिस, वाउचेरिया बेनक्रोप्टाई, ओन्कोसरका वोलवुलस, ड्रेकनकुलस मेडिनेनसिस,* मानव परजीवी सूत्रकृमि हैं।
   – *रोमेनोमरमरिस कुलिसीवोरेक्स,* स्टेरनेमा एवं हैंटेरोरेबडाइटिस जैविक नियंत्रक के रूप में प्रयुक्त होते हैं।
3. सूत्रकृमि के विभिन्न प्रजातियाँ और उनके प्रचलित नाम –

   स्टंट सूत्रकृमि – *टाइलेंकोरिकंस प्रजाति*

   स्पाइरल सूत्रकृमि – *हैंलिकोटाइलेन्कस प्रजाति*

   लान्स सूत्रकृमि – *हैंप्लोलेमस प्रजाति*

   पिन सूत्रकृमि – *पेराटाइलेन्कस प्रजाति*

   रिंग सूत्रकृमि – *हैंमिकिक्रोनिमेटिडस*

   शिथ सूत्रकृमि – *हैंमिसाइक्लियो फोरा*

   सूई सूत्रकृमि – *लोन्जीडोरस/पैरा लोन्जीडोरस*

   डेगर सूत्रकृमि – *जिफिनिमा प्रजातियाँ*

   स्टबी जड़ सूत्रकृमि– *ट्राइकोडोरस प्रजाति*
4. सूत्रकृमि के द्वारा फसलों को औसतन 12.3 प्रतिशत हानि होती है।
5. सूत्रकृमियों को संघ नेमेटोडा में रखा जाता हैं जिन्हें सेसरनेन्टिया व ऐडेनोफोरिया वर्गो में बाँटा जाता है। इन दोनों वर्गों में पादप परजीवी सूत्रकृमि आते हैं।
6. धान में पुटी रोग की खोज जर्मनी के कोहन नामक वैज्ञानिक ने 1874 में की थी।
7. धान के पुटी रोग के कारण राजस्थान, हरियाणा, पंजाब, में फसल को क्रमशः 55, 45, 70 प्रतिशत हानि पहुँचती है।
8. धान में पुटी रोग– यह हैंटेरोडेरा एवेनी के कारण फैलता है। रोग खेत में बिखरे हुए रूप में दिखाई देता है पौधे कमजोर होते हैं, कल्ले कम निकते हैं। जड़ों का विकास भी कम होता है। जड़ें पतली क्षीण व गुच्छेदार हो जाती है तथा

AGRIGYAN.IN

इन पर छोटी गोलाकार या पुटिनुमा गाँठे दिखायी देती हैं। इनमें रोग जनक विपरीत परिस्थितियों में जीवित बना रहता है।

10. सब्जियों का जड़ग्रन्थि रोग– सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में बर्कली द्वारा 1855 में खोजा गया था। भारत में सृत्रकृमि की खोज बारबर नामक वैज्ञानिक ने 1901 में चाय के बागानों में की थी। भारत में मिलोइडोगाइनी की 12 प्रजातियाँ पायी जाती हैं। इनमें से मुख्य रूप से *मिलोइडोगाइनी इनकोग्निटा, एम. जैविनिका* महत्वपूर्ण हैं।

11. गेहूँ के सेहू रोग की खोज निधम द्वारा 1743 में इंग्लैण्ड में की गई। यह *ऐंग्यूइना ट्रीटीसाई* के द्वारा होता है, तथा *रेथाइबेक्टर ट्रीटीसाई* के द्वारा पीत बाली विगलन रोग होता है, इस रोग को भारत में सर्वप्रथम हंचिनसन ने 1917 में पंजाब प्रान्त में देखा था।

12. सामान्यतः घोंघे आर्द्र एवं छायादार स्थानों पर पाये जाते हैं। यह रात्रिचर व शाकाहारी जन्तु है। यह वर्षा ऋतु से सक्रिय होकर पौधों को क्षति पहुँचाता है। यह धीरे–धीरे रेंगता है व आधारतल पर म्युकस की एक पतली पर्त स्त्रावित करता है।

13. काली स्लग (*लेबिकॉलिस ऐल्टे*) का प्रकोप मुख्यतः नीम की नर्सरी, पान की फसलों एवं सब्जियों पर होता हैं एवं उत्पादन पर विपरित प्रभाव डालता हैं।

14. स्लेटी स्लग (एनाडेन्स) मक्का की फसल पर एवं भूरा स्लग (लाइमेक्स) कंद वाली सब्जी की फसलों, खेतों व उद्यान के पौधों को नुकसान पहुँचाती हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न –

1. निम्न में से कौनसा सूत्रकृमि जैविक नियंत्रक के रूप में प्रयोग किया जाता है ?
   (अ) कीटोस्टोमा (ब) प्लेक्टस
   (स) बेनक्रोप्टाई (द) स्टरनेमा
2. लान्स सूत्रकृमि के नाम से कौनसी सूत्रकृमि की प्रजाति जानी जाती है ?
   (अ) टाइलेकोरिकंस (ब) हेप्लोलेमस
   (स) हेमिसाइक्लियोफोरा (द) जिफीनिमा
3. धान में पुटि रोग की खोज किस सन् में हुई ?
   (अ) 1874 (ब) 1855
   (स) 1743 (द) 1917
4. भारत में सब्जियों के जड़ग्रन्थि रोग की खोज किस वैज्ञानिक ने सर्वप्रथम की थी ?
   (अ) बार्बर (ब) निधम
   (स) बर्कली (द) एन.ए.कॉब
5. निम्नलिखित में से सूत्रकृमि विज्ञान का पिता कौन है ?
   (अ) बॉस्टिन (ब) एन.ए. कॉब
   (स) बार्बर (द) निधम

अति–लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. भारत में मिलोइडोगाइन की पायी जाने वाली पाँच महत्वपूर्ण प्रजातियों के नाम बताइए।
2. गेहूँ के सेहू रोग के रोगजनक का नाम लिखिए।
3. शुद्ध जल में पाये जाने वाले सूत्रकृमियों के नाम लिखिए।
4. खारे जल में पाये जाने वाले सूत्रकृमियों के नाम लिखिए।
5. धान में पुटी रोग के रोगजनक का नाम लिखो।
6. काली स्लग का प्रकोप किन पौधों पर होता है ?
7. रोग के जैविक नियंत्रक के रूप में कौन–कौन से सूत्रकृमि प्रयोग किये जाते है ?
8. गेहूँ के मौल्या रोग की खोज किस वैज्ञानिक ने तथा किस स्थान से की ?
9. सूत्रकृमि की परिभाषा दीजिए।
10. मिलोइडोगाइनी शब्द का क्या तात्पर्य हैं। समझाइये।
11. प्रपुटी क्या होती है, तथा इसका क्या कार्य हैं ?
12. अण्डजरायुज सूत्रकृमि क्या होता है ? समझाइये।
13. सूत्रकृमि के पांचन तंत्र के विभिन्न अंगों के नाम लिखिए।
14. सूत्रकृमि में कौन–कौन से तंत्र पाये जाते हैं। नाम बताइये ।
15. सूत्रकृमि में नही पाये जाने वाले तंत्रों के नाम लिखिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. गेहूँ के सेहू रोग के लक्षण लिखिए।
2. गेहूँ के तेन्दू रोग के लक्षण लिखिए।
3. सामान्य सूत्रकृमि का नांमाकित चित्र बनाइए।
4. घोंघा (स्नेल) के सामान्य लक्षण बताइए।
5. आवास के आधार पर सूत्रकृमियों के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए।
6. सूत्रकृमि से पौधे पर पड़ने वाले प्रभावों का वर्णन कीजिए।
7. मूलगाँठ सूत्रकृमि का पौधे पर क्या प्रभाव पडता है? बताइए।
8. गेहूँ के मौल्या रोग का प्रबन्ध किस प्रकार करेगें? बताइए।
9. घोंघे की प्रकृति किस प्रकार की होती है? बताइए।
10. मूल गाँठ रोग से बचाव के लिए उष्ण उपचार किस प्रकार

AGRIGYAN.IN

करते है ? उदाहरण सहित समझाइए।

11. मिलोइडोगाइनी की भारत में पायी जाने वाली प्रजातियों के नाम लिखिए।
12. मौल्या रोग की रोग प्रबन्धन का वर्णन कीजिए।
13. सूत्रकृमि कि सामान्य संरचना का वर्णन कीजिए।
14. सूत्रकृमियों का सामान्य प्रबन्धन कैसे करेंगे ? वर्णन कीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. पादप सूत्रकृमियों का संक्षिप्त वर्गीकरण कीजिए।
2. गेहूँ के सेहू रोग के लक्षण, रोग जनक एवं प्रबन्ध का वर्णन कीजिए।
3. गेहूँ के मौल्या रोग के महत्त्व लक्षण एवं प्रबन्धन का वर्णन कीजिए।
4. जड़ ग्रन्थि रोग के लक्षण, रोग जनक एवं प्रबन्धन का वर्णन कीजिए।
5. सूत्रकृमि की सामान्य संरचना का वर्णन कीजिए तथा नामांकित चित्र भी बनाइए।

उत्तरमाला–

1. (द), 2 (ब), 3. (अ), 4.(स), 5. (अ)

AGRIGYAN.IN